अब उठूँगी राख से

जया जादवानी

अब उठूँगी राख से

मुझे एकाएक विश्वास नही हुआ कि ऐसा हो गया है। उसी क्षण मुझे भारहीन हो जाने की अनुभूति हुई और मैं पीछे लगे बिस्तर पर धम्म से बैठ गयी। निकट खड़ी नर्सेस ने मुझे पकड़ना चाहा पर मैंने उन्हें हाथ से बरज दिया। मेरे कानों में अभी तक डॉक्टर के

शब्द 'आ'यम सॉरी ही इज नो मोर' फड़फड़ा रहे हैं। कुछ पलों तक मैं वह फड़फड़ाहट सुनती रही फिर मैंने अपने ठीक सामने के बिस्तर पर लेटा हुआ वह शरीर देखा जिसके साथ मैं गुजश्ता पैंतीस सालों से थी और जिसका मुँह इस वक्त सफेद चादर से ढँका हुआ है। पैंतीस साल - आजीवन कारावास से थोड़ा लंबा...। निरुद्देश्य जीवन... चक्की के दो पाटों के बीच पिसता। एक नर्स मेरी पीठ थपथपा रही है और सहानुभूति के कुछ शब्द कह रही है... मुझे उसके शब्द सुनाई नहीं दे रहे... बस होंठ हिलते दिखाई दे रहे हैं।

भीतर सब कुछ शांत है... बेइन्तहा शोर के बाद की शांति... खाली नीला आसमान... मैं देर तक उसमें रहना चाहती हूँ पर अभी नहीं... । नर्सेस मुझे छोड़, आने वाली फोन कॉल्स में उलझ गयी हैं। इस सबकी उन्हें आदत है... हर रोज होता है यह। जीवन मृत्यु से हर रोज का साबका... कितना सोचें और क्यों? मैंने मोबाइल निकाल कर बेटे को मैसेज किया... 'कम सून, ही इज नो मोर।' लिखते हुए मेरी ऊँगलियाँ शिथिल हो गयीं। हमें सब कुछ समेटना है और आज ही 'डेड बॉडी' अपने घर ले जानी है... इस पराये शहर से अपने शहर। हालाँकि मैं कुछ देर चुपचाप बैठ जाना चाहती हूँ... इस शांति को अपने भीतर उतरने देना चाहती हूँ। कितना शोर रहा है पिछले सालों मेरे भीतर? 'हाँ' और 'न' का, 'पकड़ने' और 'छोड़ने' का, 'फर्ज' और अपनी 'निजी' जरूरत का, 'विवेक' और 'मूर्खता' का... नफरत का, विरक्ति का, भाग निकलने की छटपटाहट का, अपने आत्मसम्मान की धज्जियाँ उड़ते अपनी आँखों से देखने की तकलीफ का...। सवाल यह नहीं कि कौन जीतता या हारता था। सवाल सतत चलते संघर्ष का था, जिससे छुटकारा दूर-दूर तक दिखाई नहीं देता था। मुझे बचपन के वर्षों में उद्देश्यपूर्ण जीवन जीने का चुनाव करने की नसीहत देने वाले पिता ने निरुद्देश्य जीवन जीने की दिशा में फेंक दिया। जहाँ मेरी कीमत 'मादा' से ज्यादा नहीं थी, जहाँ मैं सिर्फ 'जरूरत' थी, 'चाह' नहीं और पैंतीस हजार वर्षों तक मैं ऐसे ही चलती रही... भीतर धीरे-धीरे सुलगती... खुद को राख होते देखती।

नर्स ने मुझे उसी सुन्न अवस्था में बैठा देखा तो मेरा सामान समेटने में खुद जुटी...। इस बीच वह निरन्तर आने वाली फोन कॉल्स का जवाब भी देती जा रही थी...।

'मत उठाओ। नहीं चाहिए।' मैंने एक विरक्त नजर से अपने उस सामान को देखा, जिसे ढोने में ही मैंने जीवन की सार्थकता खोजनी चाही थी।

नर्स रुक गयी। होता है, इस तरह के सदमे से लोग वक्ती-विरक्त हो जाते हैं। थोड़ा-सा सामान फेंक भी दो तो क्या? इन लोगों को क्या फर्क पड़ेगा जो इतने महँगे हॉस्पीटल में इलाज कराने आते है? जिन्दगी कहाँ छुपी है? इस सवाल का सामना करने का साहस आने से पहले ही मौत आ जाती है, नर्स ने बड़े दार्शनिक ढंग से सोचना चाहा। नाइट ड्यूटी और रिश्तों के ठंडेपन, फिनायल और दवाओं की गंध से भरे माहौल में वह अक्सर एक गर्म ख्याल, ख्वाब या किताब अपने पर्स में रखती है। कोई तो साथ हो इस सफर में...।

'उनके आने में अभी देर है?' नर्स ने मुझसे आहिस्ते से पूछा। दरअसल वह पूछना चाहती है, क्या मैं जाऊँ? बेड नं. 3-4-5 की दवाओं का समय हो गया है, 6 का ब्लड प्रेशर चेक करना है... सात का... और आठ का... और विडम्बना यह कि इस सबके बीच अपने और परिवार के लिए एक स्वस्थ जीवन जीने की कामना। वह बीमारियों से जुड़ी बातें ज्यादा जानती है, स्वस्थ रहने की कम। यह सब जो वह पिछले पन्द्रह सालों से कर रही है उसके अवचेतन का हिस्सा हो गये हैं।

मैंने सिर हिला दिया। मैं चाहती हूँ मुझे अकेले छोड़ दिया जाये। यही एक ख्वाहिश तो रही है सालों से कि मुझे अकेला छोड़ दिया जाये पर नहीं छोड़ता कोई। लोग कितने भूखे होते हैं, दूसरे को चूस लेना चाहते है... मेरा पति तो मेरी गुठली तक को नहीं छोड़ता था।

नर्स चली गयी तो मैंने उस ठंडे कमरे में एक भरपूर नजर डाली, जहाँ हम पिछले बीस दिनों से रह रहे हैं... यहाँ सब कुछ ठंडा रहा... डॉक्टर और नर्सेस के व्यवहार से लेकर हर चीज। लोग इतनी 'ठंड' में कैसे रह लेते हैं? जैसे मैं रहती आयी हूँ सालों साल। मेरे सामने मेरा पति सो रहा है... चिरनिद्रा। मैंने हमेशा इनके सोने का इंतजार किया है ताकि मैं अपने मन के काम कर सकूँ, जो मैं वास्तव में करना चाहती थी। वे टुकड़े-टुकड़े काम मुझे जीवन देते रहे हैं। मुझे इस वक्त मेरे अधूरे कामों की लिस्ट

दिखाई दे रही है... अधूरी जिन्दगी की पीड़ा जो लिबास बदल-बदल कर मेरे सामने आती रही है।

मैंने अपने सिर को झटका... उठकर खड़ी हुई... पलंग के निकट आयी। चादर हटाकर उसका चेहरा देखा... सफेद चेहरा सूज कर काला हो गया है... जिस्म लकड़ी... मैं उससे वह सब कहना थी जो कभी नहीं कह सकी ... जीवन भर मैं तुम्हारे सामने खुली किताब की तरह लटकी रही ... .मेरे फड़फड़ाते पन्ने मैले हो गए ... फट गए... मेरी कविताएँ शब्दहीन अपने स्रोत पर सूख गयीं ... तुमने सिर उठाकर कभी मेरा चेहरा तक नहीं देखा ... मेरी मौजूदगी का तुम्हें कभी पता ही नहीं चला ... मैं तुमसे नफरत करती हूँ... तुमने मुझे कभी देह से ज्यादा नहीं समझा। तुम जब भी मेरे पास आये कुछ न कुछ माँगने आये। जो मैं नहीं देना चाहती थी, तुमने छीन लिया। तुमने मुझसे मेरे ख्वाब छीन लिये, मेरी उड़ानें... मेरे आसमान... मेरी आकांक्षाएँ... मैं अपनी काया में अकेली खड़ी थी... साबित... तुमने मुझे टुकड़े-टुकड़े कर दिया... दूसरे के भीतर नफरत की फसल बोते समय यह कोई नहीं सोचता कि यह फसल आखिरकार उसे ही काटनी होगी...। इन पैंतीस सालों में तुमने मुझे समझा नहीं, देखा नहीं, सुना नहीं, कभी परवाह नहीं की...। मैं भरपूर नफरत से उसे देखती रही... जिसकी यात्रा मात्र एक भूख से दूसरी भूख तक होती रही। जिसके लिए दूसरे की उपयोगिता मात्र इतनी है कि वह कितना उसके काम आ सकता है। अब मैंने अपने भीतर झाँका... क्या है वहाँ... स्मृतियों, कुंठाओं, तनावों, नफरतों, किसम-किसम के दुखों का अंबार, छटपटाहट, हताशा, गुजर चुके को न पकड़ सकने की विवशता का जानलेवा अहसास। हम उन लम्हों के साथ नहीं रहना चाहते जो जी रहे हैं, हम उन लम्हों के साथ रहना चाहते हैं जो 'नहीं' जी सके। मेरे उढ़के दरवाजे के पीछे वे लम्हे कतार में खड़े हैं। मैंने अपना दरवाजा कस कर बंद कर लिया।

अचानक उढ़के दरवाजे को धकेलते मेरे दोनों बेटे आ गये... उन दोनों ने मुझे बाँहों में भरा और रोने लगे। पुरुष जब रोता है तो एक अजीब अहसास होता है... छाती फोड़ने वाला अहसास। मैंने उन्हें तसल्ली देने के लिए उनके माथे पर हाथ फेरना चाहा तो पाया वे मुझे तसल्ली देते मेरी पीठ थपथपा रहे हैं। ये ठीक है, अब तुझे रोना चाहिए। मैंने अपने आपसे कहा और चुप खड़ी रही।

'छोड़, मम्मी को मत रुला।' बड़े बेटे ने छोटे के कंधे पर हाथ रखते हुए उसे मुझसे अलग किया। छोटे को अपनी सिसकियाँ रोकने में कुछ वक्त लगा। बड़े की अपेक्षा वह अपने पिता से ज्यादा जुड़ा था... उनका ख्याल रखता था, उनकी बात मानता था...

'मैं बिल पे करके आता हूँ, तब तक तू सामान उठा।'

बड़ा छोटे को निर्देश देते हुए रूमाल से अपनी आँखें पोंछता बाहर चला गया

अब सब ठीक है, अब मुझे कुछ नहीं करना पड़ेगा। छोटे ने मुझे पलंग पर बिठाया और कमरे का सामान उठाने लगा।

बड़ा बिल पे करके वापस आ गया। शव ढोने वाली गाड़ी भी। मृत्यु के बाद हम ढोते हैं, जीवन में साथ चलते हैं। मैंने पहली बार इस पर गौर किया... जीवन में भी तो ढोते हैं।

उनका शव उठाकर गाड़ी में रखवा दिया गया। हम भी बैठ गये।

'ये डॉक्टर कितने बेईमान हैं? बीस दिन का बिल पता है, कितना बनाया है... पाँच लाख रुपये।' बड़ा छोटे से कह रहा है...। दोनों सामने बैठे हैं, मैं पीछे...

'क्या फायदा था इस हॉस्पीटल में आने का? ये लोग क्या जिन्दगी दे देते हैं? और तनाव देते हैं। मैं कह भी रहा था, जो भी है घर में झेलेंगे पर मेरी सुनता कौन है? आज तक पन्द्रह लाख खर्च हो चुके है।'

'छोड़ न भइया, यह वक्त ऐसी बातें करने का नहीं है। घर में क्या मरने के लिए छोड़ देते?' छोटे ने कहा।

'मर तो फिर भी गये।'

बड़े ने झुँझलाते हुए कहा और खिड़की के बाहर देखने लगा। छोटे ने तब तक मोबाइल निकाल ली थी और सबसे पहले अपनी दोनों बहनों को कॉल करने लगा। जब तक हम घर पहुचेंगे, मेहमानों की भीड़ मौजूद मिलेगी। ये प्रथा किसने क्या सोचकर चलायी होगी कि जिन पलों में आप सबसे ज्यादा अकेले रहना चाहते हैं, उन्हीं पलों में भीड़ से घिरे रहें।

वे दोनों अपनी अपनी मोबाइल से रिश्तेदारों के नंबर ढूँढ़-ढूँढ़ कर उन्हें कॉल करने लगे। मैं चुपचाप दोनों तरफ की आवाजाही देख रही हूँ... 'अपनी' आँखों से। बगैर उसमें कुछ जोड़े या घटाये। मेरा मोबाइल बंद है। जरूरी कॉल करने के बाद मैं उसे बंद कर देती हूँ। उसमें उन लोगों के नंबर हैं, जिनके चेहरे तक मुझे मुश्किल से याद रहते हैं... हमारे रिश्तेदारों के। दोस्तों का मोबाइल नंबर मैं याद कर लेती हूँ... भीतर ही भीतर डॉयल करके बात कर लेती हूँ। कभी उनका भी नंबर बहुत बिजी रहता है, पर कोई बात नहीं। उनको मेरे दोस्तों का घर आना बिल्कुल पसंद नहीं था। वे सोचते थे, दोस्त आकर 'बिगाड़' देते है। जब भी मेरे दोस्त मुझसे मिलने आते... वे बीच में आकर बैठ जाते थे... बात-बात में हस्तक्षेप करते या कमेंट। मेरे दोस्त थोड़ी देर बैठकर चले जाते। मैं उनसे तभी बात कर पाती थी, जब मैं खुद को अकेला कर लेती और वो होता बहुत कम। सोचना चाहती हूँ, घर पर कितने लोगों की भीड़ मिलेगी तो सोच नहीं पाती। भीड़ को जमा करने का काम हमेशा उसी ने किया है, जो इस वक्त सो रहा है। अभी भी यही कर रहा है। हर वक्त हर किस्म के रिश्तेदारों को बुलाते रहना उसे बेहद पसंद था...। वे रिश्तेदार, जो बाहर 'पति' और 'पुरुष' होने का दंभ भरते थे... भीतर बीवियों से जूते खाकर हँसते थे, उनके साथ दोहरा खेल खेलते थे। कभी कोई ऊपर तो कोई नीचे। लोग मान लेते हैं कि यहीं जीवन है।

'सबको बताना जरूरी है क्या?' बड़े ने ऊबे हुए मन से कहा।

'शायद, कुछ तो सुन कर ही आ जायेंगे।'

'अरे यार, इनको कितना बर्दाश्त करना पड़ता है?' बड़े ने खीजते हुए कहा। वह मेरी तरह सोशल नहीं है, वह भी चाहता है, लोग उसे अकेला छोड़ दें।

अपने शहर के 'अपोलो हॉस्पीटल' में थे तो दिन भर इतने लोगो का आना-जाना रहता कि प्राइवेट रूम लगता ही नहीं। मैं तमाम वक्त हर आने वाले को उनकी बीमारी, चल चुके और चल रहे इलाज का ब्योरा देती रहती और वे बेड पर लेटे-लेटे आने वालों को देख 'खुश' होते। उनकी नसीहतें और सुझाव सुन-सुनकर मेरे कान पक गये थे। आने वाले अधिकतर लोग 'डॉ.' थे बगैर डिग्री के। शायद इसीलिए 'अपोलो' वालों ने कहा हो, अब तुम इन्हें बाहर ले जाओ और हमारा पिंड छोड़ो।

इतनी डिटेल में सबके सामने बीमारियों का बखान करते हुए मुझे लगता रहता, ये उनके लिए ठीक नहीं है। जिस उम्मीद को उन्होंने कस कर पकड़ा हुआ है, उस पर उनकी गिरफ्त कमजोर पड़ने लगी है। पता नहीं क्यों लोग दूसरे की हर बात जान लेना चाहते है? हुआ भी यही। वे धीरे-धीरे उदास और निराश होते गये। फिर किसी के आने पर आँखें तक न खोलते। कभी-कभी बंद पलकों में ठहरे हुए आँसू दोनों तरफ से लुढ़क आते और मात्र उसी क्षण वे मुझे अपने थोड़ा करीब लगते। तो क्या दुख ही हमें दूसरे से जोड़ता है? दुख ही हमें अपने करीब लाता है?

फिर हम नजदीकी बड़े शहर में आ गये... सहानुभूति प्रदर्शित करते शब्दों से दूर... बड़े, महँगे और ठंडे हॉस्पीटल में... और कितनी अजीब बात है... इस निहायत ठंडे भावहीन, तन्हा कमरे में हमें लोगों की आँखों और शब्दों की वह गर्माहट याद आती रहती... जिसे हम बड़े ऊबे हुए भाव से पीछे छोड़ आये थे। यहाँ सब एक जैसे डॉक्टर और नर्सेस थीं, एक जैसी मुस्कान... एक जैसी गंध... एक जैसे शब्द, जिन्हें दिया तो हौसला बँधाने के लिए जाता था पर जो वास्तव में हौसला तोड़ते थे। उनके पीछे से निकलते भय के पंजे पेशेन्ट का दिमाग इस तरह दबोच लेते कि हृदय से टपकता लहू किसी को दिखाई नहीं देता। उस पर आस-पास का माहौल। मैं उन क्षणों में मानवता के नाते ही सही उनके करीब रहना चाहती थी कि कहीं से तो कोई गर्मी उन्हें मिलती रहे। अपना हाथ उनके हाथ में दे उन्हें कसकर बाँधे रहती पर हकीकतन दोनों हाथ ठंडे ही रहते थे।

मैं उनके सामने अपना अर्थ खो चुके उन्हीं वाक्यों को दोहराना चाहते हुए भी दोहरा नहीं पाती थी कि मत डरो, कोई नहीं मरता। कुछ नष्ट नहीं होता। जिस हम 'मरना' कहते हैं, वही अपनी 'राख' में से 'उगना' भी तो है। मुझे इस वाक्य के खारिज हो जाने का डर था, जिस तरह आज तक मेरी समस्त धारणाओं, विश्वासों और अज्ञात के प्रति प्रेम को खारिज किया जा चुका है, यह कहते हुए कि जो बातें समझ में नहीं आतीं, उनका अस्तित्व नहीं है। और क्या यही 'सामान्य सच' नहीं है?

हमें लगभग दो सौ किलोमिटर चलना है। हजारों किलोमीटर चल चुका जीवन दो सौ किलोमीटर और। गाड़ी के झटकों से मुझे नींद आ रही है। लग रहा है, मैं अपनी ही कोई फिल्म देख रही हूँ... कुछ हिस्से कट-फट गये हैं, कुछ बार-बार रिवाइंड हो रहे हैं।

इस रास्ते का पूरा सदुपयोग मेरे बेटों ने किया। अधिकतर रिश्तेदारों को फोन करने के बाद उन्होंने 'दाह-संस्कार' का टाइम भी तय कर डाला - शाम चार बजे। मैंने घड़ी पर नजर डाली... ग्यारह बज रहे हैं... कल रात ही तो... हमे पता ही नहीं चला, कब हो गया? हफ्ते भर से उनकी तकलीफ बढ़ गयी थी। खाना तो कब का छूट गया था। बात करना भी छूटता जा रहा था हालाँकि बात करने को वे बहुत छटपटाते थे। उन्हें देखकर ही समझा जा सकता है कि संवाद किस तरह उनकी आत्मा की जरूरत हैं (पर दूसरे की इस जरूरत को वे कभी नहीं समझ पाये)। आई.सी.यू. में डॉक्टर खड़े होने भी न देते। शाम को बस आधा घंटा। चौबीस घंटों के जमा शब्दों का अंबार। वे जल्दी-जल्दी कुछ कहने की कोशिश में कुछ न कह पाते, हाँफने लगते। नर्सेस उन्हें पकड़ कर सुला देतीं, मुझे बाहर कर देतीं। कल रात भर वे छटपटाते रहे थे... हफ्ते भर से उनकी यही रट थी कि मुझे घर जाना है। अलस्सुबह उन्हें साँस लेने में तकलीफ होने लगी, फिर जाने कब... । मैं बाहर सो रही थी, कुछ पता ही नहीं चला... जब तक नर्स आयी बताने, सब कुछ खत्म हो चुका था। क्या कहना चाहते रहे होंगे वे? मैं नहीं सोचना चाहती। मैं उनके शब्दों से चोटिल थी... मैंने उन्हें सुनना तो कब से बंद कर दिया था, पर घाव? कितनी भी मरहम की परतें चढ़ा लो, कोई घाव नहीं भरता... वह और गहरा होता जाता है। शरीर से गायब होता है तो मन में उतर जाता है।

घर नजदीक आ रहा है। घर के सामने खड़ी गाड़ियों की कतारें देख कर ही मैं समझ गयी... काफी लोग आ गये हैं और ये सिलसिला चलता रहेगा। हमारी गाड़ी के रुकते ही हम लोगों से घिर गये। 'शव' को और मुझे नीचे उतारने में सबने मदद की। मैं किसी की आँखों में देखे बगैर आगे बढ़ी ही थी कि मेरी दोनों बेटियाँ 'माँ, ये क्या हो गया, पप्पा को कहाँ छोड़ आयी?' कहते हुए मुझसे लिपट कर जोर-जोर से रोने लगीं। मैंने दोनों को अपनी बाँहों में समेटा और चुप कराने की नाकामयाब कोशिश करने लगी। फिर जैसे-तैसे हम ऊपर आये... नीचे की मंजिल मेहमानों से भर चुकी है... सोफे हटाये जा चुके हैं... गमले दूर सरकाते हुए फर्श पर बड़ी-बड़ी दरियाँ बिछायी जा चुकी हैं। चाय-पानी का बन्दोबस्त भी किया जा चुका है।

मुझे बीच में बिठा दिया गया है और घेर कर सारे लोग बैठे हैं। वे हॉस्पीटल की एक-एक बात जान लेना चाहते हैं और उन्हें बताने को मेरे पास कुछ नहीं है। फिर

भी... फिर भी... मैंने थके हुए भाव से उन्हें दो-चार बातें बतायीं और दीवार से टिकते हुए अपनी आँखें बंद कर लीं। मेरे चेहरे पर किसी ने थकान देखी होगी। एक कंबल और एक तकिया लाकर मुझे वहीं लिटा दिया गया। मैं ये कुछ घंटे खामोशी से गुजार देना चाहती थी। वे मुझे बाहर खींचना चाहते होंगे और मैं अपने भीतर रहना चाहती थी। मैं इस वक्त जिस मोड़ पर खड़ी थी... मेरे सामने दो रास्ते थे... एक वह, जिसे मैंने घिसटते पार किया था... दूसरा यह, जिसे मैं अपने पैरों पर चलके पार करना चाहती हूँ। कौन है मेरे साथ? कोई नहीं। उसने मुझे ऐसी जगह ले जाकर छोड़ा है, जहाँ से आगे के रास्ते भी मैं नहीं पहचानती। पर... पर... मैं चलूँगी बगैर किसी सहारे के। कैसा होता है वह चलना, जहाँ कमर में सिर्फ आपका अपना हाथ हो। मैंने सख्ती से अपनी उँगली पकड़ रखी है... नहीं खोना नही, रोना तो बिल्कुल नहीं। बस होना।

उनका शव ऊपर लाया गया और पहले से बनायी जगह पर रख दिया गया। सिरहाने एक दीया जला दिया गया। उनके आते ही रुदन की आवाजें आने लगीं। सबसे तेज मेरी बेटियों की आवाजें हैं... जो अपने पापा को पुकार रही हैं... । पुकारें जो न कहीं से आती हैं... न कहीं पहुँचती हैं... वे हमेशा मध्य में रहती हैं... आँसुओं की मानिंद पारदर्शी ... काँपती... अपनी जगह तलाशती...।

समय सरक रहा है... आवाजें काफी कम... शायद चाय-पानी पिलाया जा रहा है। लोग वापस लौटने लगे हैं... अपनी दुनियायों में... घर-गृहस्थी, बच्चों, पति और शॉपिंग की बातें... सिर्फ किसी-किसी के आने से ही रुदन तेज होता है। जरा-सी देर बिना आँख खोले उनकी आवाजें सुनती हूँ। जानती हूँ वे हमारे नहीं अपने दुखों के लिए रो रहे हैं। दुख की शक्ल हमेशा एक-सी होती है, सिर्फ भय के पंजे अलग-अलग शक्ल के होते हैं।

कोई आकर मुझे चाय और पानी पिला देता है। अब मुझे बैठा दिया गया है... कोई-कोई तो मेरे गले से चिपक कर इतने जोर से रोती है कि मेरा हृदय चीखना चाहता है... बस करो... भीतर सूखा रेगिस्तान है... कब से तो चल रही हूँ। न कोई छाया नजर आती है, न पानी।

साढ़े तीन बजे आठ-दस पुरुष ऊपर आ जाते हैं... वे वहाँ बैठी महिलाओं को उठा कर अंदर भेज देते हैं तकि उन्हें नहलाने की प्रक्रिया शुरू की जा सके। बाल्टी में पानी, मुल्तानी मिट्टी, तेल और नये कपड़े उन्हें मेरी बेटियों ने दे दिये हैं। सारी महिलाएँ अंदर कमरों में चली गयीं। 'शव' को घेरे सब खड़े हैं।

अब वे 'जाने' को तैयार हैं... उन्हें नीचे ले जाया जा रहा है... पोर्च में... जहाँ पहले से ही अर्थी तैयार की जा चुकी है। बेटियाँ उनके सिर के पास और बेटे उनके पैरो के पास बैठकर थोड़ी देर रोते हैं। फिर वे दूसरे कामों में व्यस्त हो जाते हैं।

अर्थी तैयार हो चुकी है। औरतों को आखिरी बुलावा आता है कि अंतिम दर्शन कर लो। सारी महिलाएँ नीचे उतरती हैं, मुझे भी साथ लेती हुई...। जो छोटी है, उनके पैर छूकर प्रणाम कर रही हैं। जो बड़ी हैं, उन्हें हाथ जोड़कर विदा दे रही हैं। मुझे ले जाकर उनके पैरों के पास खड़ा कर दिया जाता है। मैं आँखें उठाकर उधर देखती हूँ... 'जाओ, हमारे बीच सिर्फ एक ही शब्द बचा है... क्षमा। जिसे दिया और लिया जा सकता है... मैंने न लिया... न दिया।'

अर्थी उठती है। घुटा हुआ सिर लिये मेरे बेटे अर्थी उठाये आगे-पीछे चलने लगते हैं। अंतिम विदाई! मैं धम्म से बाहर रखी कुर्सी पर बैठ जाती हूँ।

बाहर न जाने कितने लोग अपने-अपने ग्रुप बनाकर खड़े है। बातें बीमारियों और मौत के इर्द-गिर्द घूमती। कुछ को देर हो रही है, वे बार-बार घड़ी देखते हैं। कुछ ने स्कूटर स्टार्ट कर लिये हैं और अर्थी के गुजरने की बाट जोह रहे हैं...। मरने से पहले हम कितने काम कर लेना चाहते हैं ... और मरने के बाद सब व्यर्थ हो जाता है... किया भी अनकिया भी...।

सारी औरतें बाहर बिछी 'दरियों' पर बैठ जाती हैं। अब बिना नहाये कोई भीतर नहीं जायेगा। पहले ऊपर की सफाई होगी जहाँ वे लेटे थे... उस जगह 'तुलसी' का पौधा रखा जायेगा, फिर नीचे बैठी तमाम औरतें बाहर लगे नल पर हाथ-मुँह धोकर अंदर प्रवेश करेंगी। सबसे पहले मुझे ले जाकर नल के सामने खड़ा कर दिया जाता है और पाइप मेरे सिर पर है...

मुझे लगा, मेरे शरीर पर इतना नीला जहर चढ़ चुका है कि अगर किसी संकल्प से मैंने इसे धोया तो समूची धरती नीली हो जायेगी। पानी मेरे कपड़ों और जिस्म पर पड़-पड़ नीचे गिरता रहा... मिट्टी में... किस पानी से धोऊँगी इस देह को कि पूरी शुद्ध हो जाऊँगी... अपने जैसी...।

मुझे नहलाकर गीले पकड़ों सहित अंदर भेजा जाता है। मैं ऊपर आकर बाथरूम में घुस जाती हूँ। अब इसी तरह बाहर खड़ी सारी औरतें पहले आधा फिर पूरा नहायेंगी।

मेरे जिस्म पर लाइट कलर के कपड़े हैं, मेरे बाथरूम का दरवाजा खटखटा कर मेरी बेटी ने मुझे दिये हैं... ये कपड़े उसे मेरे वार्डरोब से मिले भी मुश्किल से होंगे। मैंने हमेशा डार्क कलर पसंद किये हैं... जिसमें कुछ न दिखे। वह मुझसे बात करने के अवसर ढूँढ़ रही है... मैं उसे कोई अवसर नहीं देना चाहती।

मैं फिर उन्हीं औरतों के मध्य आकर बैठ जाती हूँ... जिनका ध्यान अब सिर्फ अपनी बातों की तरफ है...। औरतें ही शब्दों की जननी हैं, वे हमेशा विश्लेषण ही करती हैं... चले गये के किये हुए या सुने हुए कामों का विश्लेषण।

कोई जब मर जाता है लोग कितना झूठ बोलते हैं। हालाँकि कायरों के लिए यही एक टाइम होता है सच बोलने का। अब कोई तुम पर हमला नहीं कर सकता। पर न जाने क्यों मौत को वे महिमा मंडित करते हैं।

औरतें एक-दूसरे से शिकायत कर रही हैं कि अब तो मिलना सिर्फ किसी के जन्म लेने, शादी करने और मरने तक ही सीमित हो गया है। कोई काम नहीं है फिर भी फुरसतें नहीं हैं। इनकी दुनियाएँ कितनी छोटी हैं... जिन्हें खींच-खाँख कर वे बड़ा करना चाहती हैं... चुइंग गम की तरह... जैसे ही बड़ा होता है, फट जाता है।

'मुक्ति धाम' से पुरुष वापस आ गये हैं... नहाने-धोने के बाद वे पंक्ति बनाकर खाने के लिए बैठ जाते हैं... सब दिन भर के भूखे हैं... शव जब तक घर में हो, चूल्हा नहीं जलता। चाय भी दूसरों के घरों से आती है। बरतनों की खड़खड़ाहट होती है, सबके सामने स्टील की थालियाँ और कटोरियाँ...। आज लगभग मुहल्ले के सभी घरों से खाना आया होगा। किसम-किसम की सब्जियाँ, रोटियाँ, दाल, चावल, अचार

वगैरह-वगैरह। खाना देखते ही सबके चेहरे पर रौनक आ जाती है। सबसे पहले उन चारों को खिलाया जाता है, जिन्होंने शव को कंधा दिया था... चार लड़के घुटा हुआ सिर लिये खाना खा रहे हैं। इसके बाद दूसरे समस्त पुरुषों को खाना परसा जाता है। मैं मन ही मन उन सारे घरों का आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने इतनी मेहनत से हमारे घर डब्बे भर-भर खाना भेजा है। हालाँकि ये प्रथा मुझे कभी समझ में नहीं आती। समझ में तो खैर बहुत कुछ नहीं आता।

पुरुषों का खाना निपटने के बाद औरतों को बिठाया जाता है। इतने सारे लोग... दस कमरों वाले बँगले में पैर रखने की जगह नहीं है। शारीरिक आवश्यकताएँ कभी पीछा नहीं छोड़तीं, सबको सब कुछ चाहिए।

खाना खाने के बाद लोग अपने घरों की ओर लौट रहे हैं... आखिरी में बस रिश्तेदार बच गये हैं। जो अलग-अलग कमरों में जाकर लेट गये हैं। मैं भी अपने कमरे में आ गयी हूँ। तेरह दिन घर भरा रहेगा... पहले पगड़ी रस्म, फिर बारहवाँ, जब तक ब्राह्मण भोज न हो जाये।

मैंने अपने कमरे का दरवाजा अंदर से बंद कर अपना वार्ड रोब खोला... सारे रुपये, सारा सोना, जमीनों के कागजात सब बाहर निकाले... मैंने हिसाब लगाया... काफी रकम थी, जितना भी मेरा जीवन बचा है, आराम से निकल सकता है। पैंतीस सालों का मुआवजा। सेवा का इनाम। मैंने कभी कुछ नहीं कमाया पर मेरे पास हमेशा खूब रहा। मेरे सामने मेरी ड्रेसिंग टेबिल के साथ आईना है... आदमकद... मैंने खुद को देखा... अपने लिबास को... पलंग पर बिछी वे सारी चीजें रखी हैं... जिन्हें मैंने थोड़ी देर पहले निकाला है... और वे भी जो मेरी नजर बचाकर मेरे भीतर से निकल कर बाहर आ गयी हैं... डर, कुंठा, नफरत, सेक्स, जंग... .दुःस्वप्नों का ढेर ... और न जाने क्या-क्या? शादी कोई बुरा सौदा नहीं है, अगर हम अपने कमबख्त 'आत्म' को दूर तक खदेड़ आयें या गला दबा के मार दें और दुनिया की समस्त बेवकूफ औरतों को शादी जरूर करनी चाहिए जैसे मैंने की। अचानक मुझे हँसी आ गयी... मैं जोर-जोर से हँस रही हूँ...

https://www.hindiadda.com/ab-uthungi-rakh-se/